आशौचतत्त्व का विज्ञान

प्रत्येक शरीर में तीन प्रकार की आत्मा का निवास होता है- शरीरात्मा, अन्तरात्मा और विशुद्धात्मा। इन तीनों में से इस शरीरात्मा अर्थात् शरीर से सम्बन्धित आत्मस्वरूप में उत्पन्न होने वाले दोषों को उससे दूर करने के लिए तथा उसमें गुणों का आधान करने के लिए जिस प्रकार से आयुर्वेद शास्त्र की चरितार्थता स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार से यह धर्मशास्त्र उस दूसरे सत्त्व नाम से प्रसिद्ध अन्तरात्मा को आधार बनाकर उससे सम्बन्धित दोषों के परिहरण करने के लिए तथा उसमें गुणों के व्यवस्थापन करने के लिए सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है। अन्तरात्मा और शरीरात्मा के एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से

सम्बन्धित होने से एक में दोष के उपस्थित हो जाने पर दूसरे में भी दोष के फैल जाने से जिस तरह आयुर्वेदशास्त्र में अन्तरात्मा को दोषरहित करके संस्कारयुक्त करने की अपेक्षा की जाती है, उसी तरह से इस धर्मशास्त्र के भी शुद्धिप्रकरण में बार-बार अत्यधिक रूप से शरीरात्मा के भी संस्कारयुक्त होने की अपेक्षा रहती है। जो यह तीसरा विशुद्धात्मा विवेचन का विषय है, वह निश्चित रूप से सभी में मुख्य होकर भी, व्यापक एवं क्रियाविरहित होने से न कोई क्रिया करता है तथा न ही उत्पन्न होने वाले फल आदि से लिप्त होता है इसलिए उसके इस धर्मशास्त्र और आयुर्वेद शास्त्र के अधिकार में न आने से उनका विषय नहीं बनता है। इसका कारण यह है कि वह सभी गुणों से युक्त तथा दोषरहित होने से संस्कारकी अपेक्षा नहीं रखता है ऐसा विद्वज्जन का अभिमत है।

एतदनन्तर **'सत्त्व' नाम से प्रसिद्ध अन्तरात्मा के संस्कारविधान को ही धर्मशास्त्र नाम से जाना जाता है।** उसमें साक्षात् रूप से अन्तरात्मा का

संस्कार सम्भव न होने से आत्मा के आश्रय रूप तत्त्वों (पदार्थों) का संस्कार करने से उस आत्मा का भी संस्कार हो जाता है **वह संस्कार अभ्युदय (सांसारिक उत्कर्ष) एवं निःश्रेयस (आध्यात्मिक उत्कर्ष) को सम्पन्न कराने वाला होने से धर्म है।** भूत-भौतिक अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश रूप पञ्चभूत एवं इन तत्त्वों से निर्मित यह शरीर और प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान नामक पांच प्राण तत्त्व, जो कि जीवन के मूल हैं ये ही आत्मा के आयतन अर्थात् आधार हैं।

इनके ही **दोषों का परिहरण (शुद्धिकरण), समृद्धिप्रदायक उपाय एवं गुणों का स्थापन** - ये तीन प्रकार के संस्कार किये जाते हैं। मूढ़ता के कारण आहार-विहार आदि आचरण-व्यवहार में ग्रहण किये गये पदार्थों के जो **हीनयोग, मिथ्यायोग एवम् अतियोग** के हैं, वे आत्मा के आधारभूत तत्त्वों में नियमतः उत्पन्न होकर सत्त्वरूप अन्तरात्मा में अशुभ विकार रूप में एकत्रित होते हैं, वे मल कहलाते हैं और वे ही दोष हैं। आत्मा के आधार एवं स्वयम् उस

आत्मा के निर्मल हो जाने पर वे दोष अवरुद्ध हो जाते हैं। उन मलों अर्थात् दोषों का निर्मलीकरण ही शुद्धिसंस्कार है। और उन मलों (दोषों) के पांच प्रकार का होने से शास्त्रों में भी उनका पांच रूपों में विभाजन करके उनका अच्छी तरह से विवेचन किया जाता है।

इनमें मल-मूत्र रूप से शरीर में होने वाले दोषों की शुद्धि करना प्रथम शुद्धिसंस्कार है।

शय्या-आसन-स्थान - वस्त्र - भोजन एवं पात्र आदि द्रव्यों को शुद्ध करना द्वितीय शुद्धि-संस्कार है।

सापिण्ड्य, सोदक एवं सगोत्र से सम्बन्धित सूत्रों से जुड़ा हुआ जन्ममृत्यु आदि के कारण उत्पन्न होने वाले 'अघ' की शुद्धि तृतीय शुद्धिसंस्कार है।

प्रज्ञापराध (विवेकहीनता) के कारण चरित्र सम्बन्धी दोषों से उत्पन्न पाप की शुद्धि चतुर्थ शुद्धिसंस्कार है।

आदि शङ्कर वैदिक विद्या संस्थान
दूरभाष: 9044016661

रजोगुण एवं तमोगुण की अधिकता से दोषयुक्त चिन्तन आदि भावों की शुद्धि पञ्चम शुद्धिसंस्कार है।

इन पाँचों ही शुद्धिकरण रूप संस्कारों से दोष रहित किये गये 'सत्त्व' नामक अन्तरात्मा तथा शरीरात्मा रूप क्षेत्र में गुणों के स्थापन हेतु किया गया अध्यवसाय ही फलवान् होता है, इसके विपरीत नहीं ।

यज्ञ, तप एवं दान रूप तीन प्रकार के कर्मों से जो इस सत्त्व रूप अन्तरात्मा में कल्याणकारी अतिशयों (पुण्यों) को इकट्ठा किया जाता है, वे बल कहलाते हैं और वे ही गुण हैं, क्योंकि आत्मा के आश्रयभूत तत्त्वों एवं स्वयं आत्मा के निर्मलीकरण में वे ही मुख्य साधन बनते हैं। इनका पूर्ण रूप से स्थापन करना ही दैवसंस्कार कहलाता है।

स्वस्त्ययन का अर्थ है- दोषों को उत्पन्न करने वाले उपकरणों के प्रतिबन्धित हो जाने से अपने स्वरूप में अवस्थित अर्थात् निर्विकार निर्मल आत्मा का एकाकार रूप में स्थापित हो

जाना। इनमें दैवसंस्कार और स्वस्त्ययन संस्कार शुद्धि- संस्कार के बिना उपयोगी नहीं होते हैं इस तरह सर्वप्रथम प्रतिपादन के योग्य शुद्धि संस्कार में शरीर से सम्बन्धित शुद्धि तथा द्रव्य-शुद्धि के अच्छी तरह समझाने के बाद अब प्रसङ्गवश अघशुद्धि के सम्बन्ध में बतलाया जा रहा है।

आशौच का स्वरूप

वेदों में बतलाये गये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक **चारों वर्णों के अनुरूप किये जाने वाले कर्मों के फल की निष्पत्ति के अवरोधक जन्म - मृत्यु आदि से उत्पन्न होने वाले अपबित्र रूप अपूर्व विशेष को 'अघ' कहा जाता है** अघ से भिन्न मलों (दोषों) के सम्पर्क से वह सम्पर्की व्यक्ति का शरीर ही अपवित्र होता है, किन्तु इस 'अघ' नामक मल के सम्बन्ध से कुल में उत्पन्न हुए सभी व्यक्तियों के शरीर और आत्मा अपवित्र हो जाते हैं, यह इसमें विशेष है। **यह अघ ही शास्त्रों में 'आशौच' नाम से प्रसिद्ध है। अशौच, आशौच, सूतक तथा अघ ये एक ही अर्थ को**

कहने वाले हैं। इनका बाधक शुद्धिसंस्कार है और इसके उपायों का कथन करना ही इस प्रकरण का प्रयोजन है।

आशौच शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-**अशुचे भावः कर्म च।** अर्थात् अशुचि से सम्बन्धित भाव, क्रिया अथवा कर्म। अशुचि तथा अमेध्यत्व (अपवित्रता) का तात्पर्य है-शास्त्रविहित कर्म में अधिकारमात्र का न होना—यह विद्वानों का अभिमत है।
अन्य के मत में आशौच का अर्थ है—सामयिक स्नान आदि से विरत करके पिण्डदान, उदकदान (तर्पण) आदि कर्मों में होने वाले अधिकार के निमित्तभूत अध्ययन आदि कर्मों में अधिकार से समाप्त का अवरोधक व्यक्ति में रहने वाला एक अतिशय विशेष है न कि कर्म में अधिकार होना, और **इस प्रकार का अतिशय ही शास्त्रों में 'अघ' नाम से प्रसिद्ध है।**

वास्तविकता तो यह है कि संसर्ग, संस्रव आदि के निरन्तर चिन्तन तथा अभ्यास से उससे सम्बन्धित व्यक्तियों में (संसर्गी व्यक्ति में) न

रोका जा सकने वाला एक अतिशय उत्पन्न होता है। सबके एक ही तरह से संसर्ग होने पर भी योनि (रक्त) सम्बन्ध व विद्या सम्बन्ध वाले व्यक्तियों में वह अतिशय शीघ्रता से एवं विशेष रूप से पैदा होता है। संसर्ग के समाप्त होने की दशा में तो वह ह्रास को प्राप्त होकर अर्थात् क्षीण होकर कुछ समय में पूर्ण रूप हो जाता है। आश्रम विशेष (वानप्रस्थ, संन्यास) के सम्बन्ध से चित्त में वैराग्य अर्थात् मोह माया से निवृत्ति के उत्पन्न हो जाने से अथवा अन्य किसी कारण से साहचर्य की निवृत्ति के निमित्त के उपस्थित हो जाने से वह आसानी से निवर्तित हो जाता है। वह अतिशय कालभेद् से तीन प्रकार का होता है-

1. सम्पर्क व्यक्ति के जीवित रहने पर अन्य प्रकार से,
2. मृत्यु हो जाने पर कुछ समय के लिए दूसरे तरह का तथा
3. इसके बाद कुछ अन्य प्रकार का।

इन तीनों में मध्यम अवस्था में वह अतिशय 'अघ' तथा 'आशौच' शब्द से जाना जाता है। उसकी उस तरह की अवस्था से छुटकारा

पाना ही शुद्धि है। और उसके कारण का विवेचन ही इस प्रकरण का प्रयोजन है।